

सम्पादकीय

प्रवचनसार परिशिष्ट : एक अनुशीलन

(३६-३७) गुणीनय और अगुणीनय

गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकवद्गुणग्राहि ॥३६॥ अगुणि-
नयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकाध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि ॥३७॥

“आत्मद्रव्य गुणीनय से शिक्षक द्वारा शिक्षा प्राप्त करनेवाले कुमार के समान गुणग्राही है और अगुणीनय से शिक्षक के द्वारा शिक्षा प्राप्त करनेवाले कुमार को देखनेवाले प्रेक्षकपुरुष के समान केवल साक्षी है ॥३६-३७॥”

यहाँ भगवान आत्मा के गुणग्राहक स्वभाव एवं साक्षीभाव स्वभाव को शिक्षक से शिक्षा ग्रहण करते बालक और शिक्षक से शिक्षा ग्रहण करते बालक को वीतरागभाव से - अनासक्त भाव से - साक्षीभाव से देखनेवाले पुरुष के उदाहरणों से समझाया जा रहा है।

जिसप्रकार शिक्षक के द्वारा सिखाये जाने पर बालक भाषा आदि सीख लेता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी गुरु के उपदेश को ग्रहण कर ले - ऐसी शक्ति से सम्पन्न है। भगवान आत्मा की इसी शक्ति का नाम गुणीधर्म है और आत्मा के इसी गुणी नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम गुणीनय है।

जिसप्रकार शिक्षा ग्रहण करते बालक को देखनेवाला पुरुष शिक्षा ग्रहण नहीं करता, अपितु मात्र साक्षीभाव से देखता ही रहता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा पर से कुछ भी ग्रहण नहीं करता, मात्र उसे साक्षीभाव से जानता-देखता ही है। भगवान आत्मा की साक्षी भाव से जानने-देखने की इस शक्ति का नाम ही अगुणीधर्म है और इस अगुणी नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम ही अगुणी-नय है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में एक ऐसा धर्म है कि जिसके कारण वह उपदेश ग्रहण करने में समर्थ है और एक ऐसा भी धर्म है कि जिसके कारण वह पर का उपदेश ग्रहण न करके मात्र उसे साक्षीभाव से जान लेता है। इन दोनों धर्मों के नाम ही क्रमशः गुणीधर्म और अगुणीधर्म हैं।

यदि भगवान आत्मा में गुणीधर्म न होता तो फिर देशनालब्धि संभव न होती, तीर्थकर भगवान के उपदेश का लाभ भी भगवान आत्मा को प्राप्त नहीं हो पाता; क्योंकि जब वह उसे ग्रहण ही नहीं कर पाता तो लाभ कैसे होता ? इसीप्रकार यदि अगुणीधर्म नहीं होता तो फिर इसे सभी उपदेशों को ग्रहण

करना अनिवार्य हो जाता; क्योंकि साक्षीभाव से मात्र जान लेने की शक्ति का अभाव होने से किसी भी उपदेश से अलिप्त रह पाना संभव नहीं होता।

उक्त दोनों धर्मों के प्रतिपादन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस भगवान आत्मा में सदुपदेश को ग्रहण करने की शक्ति भी विद्यमान है और अवांछित उपदेश को साक्षीभाव से जानकर उसकी उपेक्षा करने की शक्ति भी विद्यमान है। इसप्रकार यह भगवान आत्मा गुणग्राही भी है और अगुणग्राही अर्थात् साक्षीभाव से रहनेवाला भी है।

गुणीधर्म और अगुणीधर्म - ये दोनों धर्म आत्मा के ही धर्म हैं; अतः गुणीनय और अगुणीनय दोनों नय आत्मा को ही बताते हैं।

अन्य नयों के समान इन दोनों नयों का उद्देश्य भी भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करना ही है।

यहाँ अगुणीधर्म का अर्थ न तो दुर्गुणों का सद्भाव ही है और न सद्गुणों का अभाव ही, अपितु परोपदेश को साक्षीभाव से जान लेना मात्र है ॥३६-३७॥

(३८-३९) कर्तृनय और अकर्तृनय

कर्तृनयेन रञ्जकवद्रागादिपरिणामकर्तृ ॥३८॥ अकर्तृनयेन स्वकर्म-
प्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि ॥३९॥

“आत्मद्रव्य कर्तृनय से रँगरेज के समान रागादि परिणामों का कर्ता है और अकर्तृनय से अपने कार्य में प्रवृत्त रँगरेज को देखनेवाले पुरुष की भाँति केवल साक्षी है ॥३८-३९॥”

कपड़ा रँगने का काम करनेवाले पुरुष को रँगरेज कहा जाता है। एक रँगरेज कपड़ा रँग रहा हो और उसी समय कोई दूसरा पुरुष वहीं खड़ा-खड़ा वीतराग भाव से उसे कपड़ा रँगते हुए देख रहा हो - ऐसी स्थिति में यदि कपड़ा अच्छा रँगा जाये तो रँगरेज को प्रसन्नता होती है और यदि अच्छा न रँगा जावे तो उसे खेद होता है; परन्तु वीतराग भाव से उसे देखनेवाले पुरुष को किसी भी स्थिति में न तो प्रसन्नता ही होती है और न खेद ही होता है; वह तो उसे साक्षीभाव से मात्र जानता-देखता ही रहता है।

उक्त स्थिति को उदाहरण बनाकर यहाँ कर्तृनय और अकर्तृनय समझाये गये हैं।

जिसप्रकार रँगरेज कपड़ा रँगने की क्रिया का कर्ता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा कर्तृनय से अपने में उत्पन्न रागादि परिणामों का कर्ता है, और जिसप्रकार कपड़ा रँगते हुए उस रँगरेज को वीतराग भाव से देखनेवाला अन्य पुरुष कपड़ा रँगने की क्रिया का कर्ता नहीं है, मात्र साक्षी ही है;

उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अकर्तृनय से अपने में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेषादि भावों का कर्ता नहीं है, केवल साक्षी ही है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक कर्तृ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने में उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का कर्ता होता है और एक अकर्तृ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेषादि भावों का कर्ता न होकर मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहता है, साक्षी रहता है। भगवान आत्मा के इन कर्तृधर्म और अकर्तृधर्म को विषय बनानेवाले नयों को ही क्रमशः कर्तृनय और अकर्तृनय कहते हैं।

परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले ये दोनों ही धर्म भगवान आत्मा में एक साथ ही रहते हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर भले ही ये परस्पर विरोधी प्रतीत हों, पर इनके एक आत्मा में एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि अनेकान्तात्मक भगवान आत्मा का ऐसा ही स्वरूप है।

प्रश्न - पहले अगुणीनय से भी भगवान आत्मा को साक्षी बताया गया था और अब यहाँ अकर्तृनय में भी साक्षी बताया जा रहा है। इन दोनों साक्षीभावों में क्या अन्तर है ?

उत्तर - सम्पूर्ण जगत को साक्षीभाव से देखने-जानने के स्वभाववाला होने से भगवान आत्मा तो सम्पूर्ण जगत का ही साक्षी है; अतः यहाँ प्रकरणानुसार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न वस्तुओं का साक्षीपन बताया गया है। अगुणीनय में, प्राप्त होनेवाले उपदेश का साक्षीभाव बताया गया है और यहाँ अकर्तृनय में, अपने में उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का साक्षीभाव बताया जा रहा है और आगे चलकर अभोक्तृनय में, अपने में उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख का साक्षीभाव बताया जायगा।

तात्पर्य यह है कि अगुणीनय में गुणीनय के विपक्षरूप साक्षीभाव लिया गया है, अकर्तृनय में कर्तृनय के विपक्षरूप साक्षीभाव लिया गया है और अभोक्तृनय में भोक्तृनय के विपक्षरूप साक्षीभाव लिया गया है।

इसे और अधिक स्पष्ट करें तो इसप्रकार कह सकते हैं कि यह भगवान आत्मा गुणीनय से गुणग्राही है अर्थात् उपदेश को ग्रहण करनेवाला है और अगुणीनय से गुणग्राही नहीं है, मात्र साक्षीभाव से देखने-जाननेवाला है; कर्तृनय से अपने आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादि भावों का कर्ता है और अकर्तृनय से उनका कर्ता नहीं है, मात्र साक्षीभाव से देखने-जानने वाला है। इसीप्रकार भोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख का भोक्ता है और अभोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख का भी भोक्ता

नहीं है, मात्र साक्षीभाव से जानने-देखने वाला है।

इसप्रकार अगुणीनय के साक्षीभाव में गुणग्राहित्व का निषेध है, अकर्तृनय के साक्षीभाव में रागादिभाव के कर्तृत्व का निषेध है और अभोक्तृनय के साक्षीभाव में सुख-दुःख के भोक्तृत्व का निषेध है। इसप्रकार यहाँ गुणीनय-अगुणीनय, कर्तृनय-अकर्तृनय एवं भोक्तृनय-अभोक्तृनय - इन छह नयों के माध्यम से भगवान आत्मा के गुणग्राहित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं इन तीनों के विरुद्ध अगुणग्राहित्व रूप साक्षीभाव, अकर्तृत्वरूप साक्षीभाव एवं अभोक्तृत्व रूप साक्षीभाव को समझाया जा रहा है ॥३८-३९॥

(४०-४१) भोक्तृनय और अभोक्तृनय

भोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधितवत्सुखदुःखादिभोक्तृ ॥४०॥
अभोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधिताध्यक्षधन्वन्तरिचरवत् केवलमेव साक्षि ॥४१॥

“आत्मद्रव्य भोक्तृनय से हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी के समान सुख-दुःखादि का भोक्ता है और अभोक्तृनय से हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी को देखनेवाले वैद्य के समान केवल साक्षी ही है ॥४०-४१॥”

जिसप्रकार यदि कोई रोगी हितकारी अन्न को खाता है तथा वैद्य के बताये अनुसार पथ्य का सेवन करता है तो सुख भोगता है और यदि अहितकारी अन्न को खाता है तथा कुपथ्य का सेवन करता है तो दुःख भोगता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भोक्तृनय से अपने सदाचरण-दुराचरण से उत्पन्न सुख-दुःख को, हर्ष-शोक को भोगता है।

तथा जिसप्रकार हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले, पथ्य-कुपथ्य का सेवन करनेवाले रोगी को देखनेवाला वैद्य उसके सुख-दुःख को भोगता तो नहीं है, परन्तु साक्षीभाव से जानता अवश्य है; ठीक उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी अभोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख को, हर्ष-शोक को भोगता तो नहीं, पर साक्षीभाव से जानता अवश्य है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक भोक्तृ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपनी भूल से अपने में ही उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख एवं हर्ष-शोक को भोगता है और एक अभोक्तृ नामक

धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने में उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख एवं हर्ष-शोक को भोगता तो नहीं, मात्र साक्षीभाव से जानता-देखता ही है।

भगवान आत्मा के इन भोक्तृ और अभोक्तृ धर्मों को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः भोक्तृनय और अभोक्तृनय हैं। शेष सब कर्तृनय और अकर्तृनय के प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है, तदनुसार इन भोक्तृनय और अभोक्तृनय के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए; क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व का स्पष्टीकरण सर्वत्र समान ही पाया जाता है।

इन कर्तृ-अकर्तृ और भोक्तृ-अभोक्तृ नयों का प्रतिपाद्य मात्र इतना ही कि यह भगवान आत्मा राग-द्वेषादि भावों को करता भी है और उनके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख को भोगता भी है तथा इन सबका साक्षीभाव से ज्ञाता-द्रष्टा भी रहता है; अतः कर्ता-भोक्ता के साथ-साथ अकर्ता-अभोक्ता भी है ॥४०-४१॥

(४२-४३) क्रियानय और ज्ञाननय

क्रियानयेन स्थाणुभिन्नमूर्धजातदृष्टिलब्धनिधानान्धवदनुष्ठान-प्राधान्यसाध्यसिद्धिः ॥४२॥ ज्ञाननयेन चणकमुष्टिक्रीतचिन्तामणिगृह-कोणवाणिजवद्विवेकप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ॥४३॥

“आत्मद्रव्य, क्रियानय से खम्भे से टकरा जाने से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर निधान मिल गया है जिसे ह्व ऐसे अंधे के समान, अनुष्ठान की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है और ज्ञाननय से, मुट्टी भर चने देकर चिन्तामणि रत्न खरीद लेनेवाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी के समान, विवेक की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है ॥४२-४३॥”

एक अंधा व्यक्ति सहज धार्मिक भावना से प्रेरित होकर मन्दिर जा रहा था। रास्ते में अचानक वह एक खम्भे से टकरा गया, जिससे उसका सिर फूट गया और बहुत-सा खराब खून निकाल जाने से उसे एकदम स्पष्ट दिखाई देने लगा, उसका अन्धापन समाप्त हो गया। खम्भे से टकराने से उसका सिर तो फूटा ही, साथ ही वह खम्भा भी टूट गया। उस खम्भे में किसी ने खजाना छुपा रखा था। खम्भे के टूटने से उसे वह खजाना भी सहज ही प्राप्त हो गया।

यद्यपि उस अंधे व्यक्ति ने खजाना और दृष्टि प्राप्त करने के लिए विवेकपूर्वक कुछ भी प्रयत्न नहीं किया था, वह तो सहज ही धार्मिक भावना से प्रेरित होकर मन्दिर जा रहा था; तथापि बिना बिचारे ही सहज ही उसी

खम्भे से टकराने की क्रिया सम्पन्न हो गई, जिसमें खजाना छुपा हुआ था और उसे दुहरा लाभ प्राप्त हो गया - खजाना भी मिल गया और नेत्रज्योति भी प्राप्त हो गई।

उक्त उदाहरण के माध्यम से यहाँ क्रियानय का स्वरूप समझाया गया है।

जिसप्रकार उक्त अंधे पुरुष को बिना समझे-बूझे ही मात्र क्रिया सम्पन्न हो जाने से सिद्धि प्राप्त हो गई, दृष्टि और निधि प्राप्त हो गई; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।

तात्पर्य यह है कि क्रियानय से इस आत्मा की मुक्ति मुक्तिमार्ग में चलनेवाले साधक जीवों के योग्य होनेवाली आवश्यक क्रियाओं के अनुष्ठान की प्रधानता से होती है।

अब मुट्टी भर चनों में चिन्तामणि खरीद लेनेवाले व्यापारी का उदाहरण देकर ज्ञाननय का स्वरूप समझाते हैं - एक लकड़हारे को जंगल में पड़ा हुआ एक चिन्तामणि रत्न प्राप्त हो गया। लकड़हारा उसकी कीमत तो जानता नहीं था, उसकी दृष्टि में तो वह एक चमकीला पत्थर मात्र था। उस चिन्तामणि रत्न को लेकर वह लकड़हारा अपने घर के कोने में बैठे एक व्यापारी के घर पहुँचा और उस व्यापारी से बोला -

“सेठजी ! यह चमकीला पत्थर खरीदोगे ?”

रत्नों के पारखी सेठजी चिन्तामणि को देखकर मंत्रमुग्ध हो गये; वे उसे एकटक देखते ही रहे कुछ भी न बोल सके।

सेठजी के मौन से व्याकुल लकड़हारा बोला -

“क्यों क्या बात है ? खरीदना नहीं है क्या ?”

जागृत हो सेठजी कहने लगे -

“खरीदना क्यों नहीं है ? खरीदेंगे, अवश्य खरीदेंगे। बोलो, क्या लगे?”

“दो मुट्टी चने से कम में तो किसी हालत में नहीं दूँगा” -

- अकड़ता हुआ लकड़हारा बोला तो अचंभित होते हुए सेठजी के मुँह से निकला - “बस, दो मुट्टी चने !”

“हाँ, दो मुट्टी चने।”

सेठजी ने अपने को सँभाला और कहने लगे :-

“दो मुट्टी चने तो बहुत होते हैं; एक मुट्टी चने में नहीं दोगे ?”

यद्यपि सेठजी दो मुट्टी चने तो क्या, दो लाख स्वर्णमुद्राएँ भी दे सकते थे; तथापि उन्हें भय था कि एकदम ‘हाँ’ कर देने से काम बिगड़ सकता है; अतः उन्होंने एक मुट्टी चने की बात सोच-समझकर हिलाने-डुलाने के लिए ही कही थी; पर लकड़हारा बोला -

“अच्छा लाओ, एक मुट्टी चने ही सही इस मुफ्त के पत्थर के।”

इसप्रकार वह अमूल्य चिन्तामणि रत्न उन सेठजी को अपने घर के कोने में बैठे-बैठे बिना कुछ किये विवेक के प्रयोग से सहज ही उपलब्ध हो गया।

उक्त उदाहरण के माध्यम से यहाँ ज्ञाननय को समझाया गया है।

जिसप्रकार घर के कोने में बैठे-बैठे ही सेठ ने अपने विवेक के बल से मात्र मुट्टी भर चनों में चिन्तामणि रत्न को प्राप्त कर लिया; उसीप्रकार ज्ञाननय से यह भगवान आत्मा विवेक की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञाननय से इस आत्मा की मुक्ति विवेक की प्रधानता पर आधारित है।

उक्त कथन का आशय यह कदापि नहीं है कि किसी को क्रिया से मुक्ति प्राप्त होती है और किसी को ज्ञान से। जब भी किसी जीव को मुक्ति प्राप्त होती है, तब दोनों ही कारण विद्यमान रहते हैं; क्योंकि अनन्त धर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक क्रिया नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अनुष्ठान की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है और एक ज्ञान नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा विवेक की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है। इन क्रियाधर्म और ज्ञानधर्म को विषय बनानेवाले नय की क्रमशः क्रियानय और ज्ञाननय हैं।

यद्यपि इस बात को विगतनयों की चर्चा में अनेक बार स्पष्ट किया जा चुका है कि यहाँ भिन्न-भिन्न आत्माओं की बात नहीं है अपितु एक ही आत्मा में उक्त दो-दो के जोड़ेवाले नयों को घटित करना है; तथापि ‘प्रधानता’ शब्द का प्रयोग कर यहाँ क्रियानय और ज्ञाननय के प्रकरण में तो अतिरिक्त सावधानी बरती गई है।

यहाँ ‘क्रिया’ या ‘अनुष्ठान’ शब्द से शुद्धभाव के साथ रहनेवाला शुभभाव एवं तदनुसार आचरण अपेक्षित है तथा ‘विवेक’ शब्द से शुद्धभाव अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य अपेक्षित है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जब भगवान आत्मा साधकदशा में होता है, तब उसके भूमिकानुसार निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप वीतरागभाव भी

होता है और शुभभावरूप रागभाव भी रहता है तथा उसका आचरण भी भूमिकानुसार होता ही है।

मुक्ति की प्राप्ति के कारणों के संदर्भ में जब नयविभाग से चर्चा होती है तो कहा जाता है कि ज्ञाननय से मुक्ति की प्राप्ति विवेक (रत्नत्रय रूप वीतरागभाव) की प्रधानता से होती है और क्रियानय से अनुष्ठान (महाव्रतादि के शुभभाव एवं महाव्रतादि के पालनरूप क्रिया) की प्रधानता से होती है। तात्पर्य यह है कि मुक्ति के मार्ग में उपस्थिति तो दोनों कारणों की अनिवार्य रूप से होती है, पर ज्ञाननय से विवेक को प्रधानता प्राप्त है और क्रियानय से अनुष्ठान को प्रधानता प्राप्त है ॥४२-४३॥

(४४-४५) व्यवहारनय और निश्चयनय

व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्यमानवियुज्यमान-परमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ति ॥४४॥ निश्चयनयेन केवलबध्यमान-मुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्धमोक्ष-योरद्वैतानुवर्ति ॥४५॥

“आत्मद्रव्य व्यवहारनय से अन्य परमाणु के साथ बँधनेवाले एवं उससे छूटनेवाले परमाणु के समान बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है और निश्चयनय से बंध और मोक्ष के योग्य स्निग्ध और रूक्ष गुणरूप से परिणत बध्यमान और मुच्यमान परमाणु के समान बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है ॥४४-४५॥”

कोई भी पुद्गलपरमाणु जब बँधता या छूटता है तो उसमें अन्य पुद्गल-परमाणुओं की अपेक्षा अवश्य होती है। यही तो कहा जाता है कि यह परमाणु इस परमाणु से बँधा या इस परमाणु से छूटा। इसीप्रकार इस भगवान आत्मा के बँधने या मुक्त होने के प्रसंग में कर्म की अपेक्षा आती है। बँधने में तो कर्म की अपेक्षा है ही, छूटने में भी कर्म की अपेक्षा होती है; क्योंकि जिसप्रकार यह कहा जाता है कि कर्मों से बँधा, उसीप्रकार यह भी कहा जाता है कि कर्मों से छूटा।

इसप्रकार बँधने और छूटने दोनों में ही कर्म की अपेक्षा रहती है।

बंध और मोक्ष - इन दोनों में ही आत्मा और कर्म - इन दोनों की अपेक्षा आने के कारण कहा गया है कि यह भगवान आत्मा व्यवहारनय से बंध और मोक्ष द्वैत का अनुसरण करनेवाला है।

यदि निश्चय से विचार करें तो जिसप्रकार प्रत्येक परमाणु बँधने और छूटने योग्य अपने स्निग्ध और रूक्षत्व गुण के कारण स्वयं अकेला ही बँधता और छूटता है। उसके बँधने और छूटने में अन्य कोई कारण नहीं है; उसीप्रकार निश्चयनय से यह भगवान आत्मा स्वयं अपनी योग्यता से ही बँधता-छूटता है, उसे बंधन एवं मुक्ति में अन्य की अपेक्षा नहीं है।

इसीलिए यहाँ कहा गया है कि निश्चयनय से यह भगवान आत्मा बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है।

इस अनन्त धर्मात्मक भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक व्यवहार नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करता है और एक निश्चय नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करता है। भगवान आत्मा के इन व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म को विषय बनाने वाले नयों को क्रमशः व्यवहारनय और निश्चयनय कहते हैं।

व्यवहार और निश्चयनयों की जो परिभाषाएँ अन्य प्रकरणों में आती हैं, उनसे इन व्यवहार-निश्चयनयों का कोई संबंध नहीं है, उन्हें इन पर घटित करना उचित नहीं है; क्योंकि ये नय तो भगवान आत्मा के अनन्तधर्मों में से एक-एक धर्म को विषय बनानेवाले एक-एक नय हैं ॥४४-४५॥

(४६-४७) अशुद्धनय और शुद्धनय

अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृणमात्रवत्सोपाधिस्वभावम् ॥४६॥ शुद्धनयेन केवलमृणमात्रवन्निरूपाधिस्वभावम् ॥४७॥

“आत्मद्रव्य अशुद्धनय से घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टी मात्र के समान सोपाधिस्वभाववाला है और शुद्धनय से केवल मिट्टी के समान निरूपाधिस्वभाववाला है ॥४६-४७॥”

जिसप्रकार मिट्टी अपने सोपाधिस्वभाव के कारण घट, रामपात्र आदि पर्यायों में परिणमित होती है और निरूपाधिस्वभाव के कारण मिट्टीरूप ही रहती है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी अपने सोपाधि स्वभाव के कारण रागादिरूप परिणमित होता हुआ अशुद्ध होता है और निरूपाधिस्वभाव के कारण सदा शुद्ध ही रहता है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक अशुद्ध नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा विकारी भावरूप परिणमित होता है और एक शुद्ध नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह

भगवान आत्मा सदा एकरूप ही रहता है। इन अशुद्ध और शुद्ध धर्मों को सोपाधिस्वभाव और निरुपाधिस्वभाव भी कहते हैं। भावरूप परिणामित होना ही सोपाधिस्वभाव है और सदा एकरूप रहना ही निरुपाधिस्वभाव है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा अशुद्ध भी है और शुद्ध भी है। अशुद्धधर्म के कारण रागादिरूप परिणामित होता है; अतः अशुद्ध है और शुद्धधर्म के कारण सदा एकरूप रहता है; अतः शुद्ध है।

इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि यह भगवान आत्मा अशुद्धनय से सोपाधिस्वभाववाला है और शुद्धनय से निरुपाधिस्वभाववाला है।

भगवान आत्मा के इन सोपाधिस्वभाव व निरुपाधिस्वभाव अर्थात् अशुद्धधर्म व शुद्धधर्म को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः अशुद्धनय व शुद्धनय हैं।

अशुद्धनय के माध्यम से यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादि विकारीभाव भी पर के कारण उत्पन्न नहीं होते, उनकी उत्पत्ति के कारण भी आत्मा में ही विद्यमान हैं। यदि आत्मा में अशुद्धधर्म नामक धर्म नहीं होता तो दुनिया की कोई भी शक्ति उसे रागादिभावरूप परिणामित नहीं करा सकती थी।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यह भगवान आत्मा अशुद्धनय से सोपाधिस्वभाववाला अर्थात् अशुद्ध है और शुद्धनय से निरुपाधि-स्वभाववाला अर्थात् शुद्ध है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है।

इसप्रकार 47 धर्मों के माध्यम से भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करनेवाले 47 नयों का संक्षिप्त स्वरूप कहा।

४७ नयों की चर्चा के उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्रदेव विषय का उपसंहार करते हुए 'तदुक्तम्' कहकर दो गाथायें उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा ।

जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा ।

जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो ॥

“जितने वचनपंथ हैं, उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय (परमत) हैं। परसमय अर्थात् मिथ्यामतियों के वचन सर्वथा अर्थात् अपेक्षा बिना कहे जाने से मिथ्या हैं और स्वसमय जैनियों के वचन कथंचित् अर्थात् अपेक्षा सहित होने से सम्यक् हैं।”

अब जो तत्त्वप्रदीपिका टीका का अंश प्राप्त होता है; उसका भाव इसप्रकार है

“इसप्रकार उक्त ४७ नयों के कथनानुसार एक-एक धर्म में एक-एक नय के व्यापने पर अनन्तधर्मों में व्यापक अनन्त नयों से निरूपण किये जाने पर, समुद्र के भीतर मिलनेवाले सफेद और नीले गंगा-जमुनी जल-समूह के समान, अनन्त धर्मों को परस्पर अतद्भाव मात्र से पृथक् करने में अशक्य होने से आत्मद्रव्य अमेचक (एक) स्वभाववाला, एक द्रव्य में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होने से एकान्तात्मक (एक धर्मरूप) है।

किन्तु युगपत् अनन्त धर्मों में व्यापक ऐसे अनन्त नयों में व्याप्त एक श्रुतज्ञान प्रमाण से जलसमूह के समुदायरूप एक समुद्र के समान, अनन्त धर्मों को वस्तुरूप से पृथक् करना अशक्य होने से आत्मद्रव्य मेचक (अनेक) स्वभाववाला, अनन्त धर्मों में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होने से अनेकान्तात्मक (अनेक धर्मरूप) है।”

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार एक नदी के जल को जाननेवाले ज्ञानांश से देखा जाय तो समुद्र एक नदी के जलस्वरूप दिखाई देता है; उसीप्रकार एक नय से देखा जाय तो आत्मा एक धर्मस्वरूप दिखाई देता है; परन्तु जिसप्रकार एक ही साथ सभी नदियों के जल को जाननेवाले ज्ञान से देखा जाय तो समुद्र सभी नदियों के जलस्वरूप दिखाई देता है; उसीप्रकार एक साथ सभी धर्मों को जाननेवाले श्रुतज्ञानप्रमाण से देखा जाय तो आत्मा अनेक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है। इसप्रकार एक नय से देखने पर आत्मा एकान्तात्मक है और प्रमाण से देखने पर अनेकान्तात्मक है।

अब इसी आशय का कलश लिखते हैं; जो इसप्रकार है

(शालिनी)

स्यात्कारश्रीवासवश्यैर्नयौघैः पश्यन्तीत्थं चेत् प्रमाणेन चापि ।

पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्मस्वात्मद्रव्यं शुद्धचिन्मात्रमन्तः ॥१९॥

(दोहा)

स्याद्वादमय नयप्रमाण से दिखे न कुछ भी अन्य ।

अनन्तधर्ममय आत्म में दिखे एक चैतन्य ॥१९॥

इसप्रकार यदि हम स्यात्काररूपी लक्ष्मी के निवास के वशीभूत वर्तते नयसमूहों से देखे तो और प्रमाण से देखें तो भी स्पष्ट अनन्त धर्मों वाले निज आत्मद्रव्य को भीतर से शुद्ध चेतनमात्र ही देखते हैं।

इसके बाद प्राप्त होनेवाली तत्त्वप्रदीपिका टीका का भावानुवाद इसप्रकार है

“इसप्रकार आत्मद्रव्य की चर्चा हुई; अब उसकी प्राप्ति का उपाय बताते हैं; जो

इसप्रकार है ह्व अनादि पौद्गलिककर्मनिमित्तक मोहभावना के प्रभाव से चक्कर खाती आत्मपरिणति वाला आत्मा समुद्र की भांति क्षुब्ध होता हुआ क्रमशः प्रवर्तमान अनंत ज्ञप्तिव्यक्तियों (ज्ञानपर्यायों) से परिवर्तन को प्राप्त होता है; इसलिए उसकी मैत्री ज्ञप्तिव्यक्तियों के निमित्तरूप ज्ञेयभूत बाह्य पदार्थव्यक्तियों के प्रति वर्तती है। यही कारण है कि शिथिल आत्मविवेकवाला वह अत्यन्त बहिर्मुख आत्मा पौद्गलिक कर्मों के निर्माता राग-द्वेष के द्वैतरूप परिणमित होता है; इसलिए उस अज्ञानी आत्मा को आत्मप्राप्ति अत्यन्त दूर है।

परन्तु जब वही आत्मा प्रचंड कर्मकाण्ड द्वारा प्रचण्डीकृत अखण्ड ज्ञानकाण्ड से अनादि पौद्गलिक कर्म रचित मोह को वध्य आत्मा और घातक मोह से भेदविज्ञानपूर्वक विभक्त करने से केवल आत्मभावना के प्रभाव से परिणति निश्चल की होने से, समुद्र की भांति अपने में ही निश्चल रहता हुआ एक साथ ही अनन्त ज्ञप्ति-व्यक्तियों (ज्ञानपर्यायों) में व्याप्त होकर अवकाश के अभाव के कारण परिवर्तन को प्राप्त नहीं होता; तब ज्ञप्तिव्यक्तियों की निमित्तरूप ज्ञेयभूत बाह्यपदार्थ व्यक्तियों के प्रति उसकी मैत्री नहीं होती; इसलिए सुप्रतिष्ठित आत्मविवेक के कारण अत्यन्त अन्तर्मुख आत्मा पौद्गलिक कर्मों के निर्माता राग-द्वेषरूप परिणमन से दूर होता हुआ अपूर्व ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा को प्राप्त करता है।

जगत भी ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को अवश्य प्राप्त करे।”

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यद्यपि कर्मोदयनिमित्तक मोह भावना के कारण अज्ञान अवस्था में यह भगवान आत्मा ज्ञान के ज्ञेय बननेवाले बाह्य पदार्थों में एकत्व-ममत्व धारण करता है, उनका कर्ता-भोक्ता बनता है; इसप्रकार मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित होता है। यही कारण है कि उक्त अज्ञानी आत्मा को भगवान आत्मा की प्राप्ति अत्यन्त दूर है; तथापि जब वही आत्मा प्रचंड कर्मकाण्ड (आत्मध्यानरूप क्रिया) से प्रचण्डीकृत अखण्ड ज्ञानकाण्ड से आत्मा और मोह के बीच भेदविज्ञान करके ज्ञान में ज्ञात होनेवाले अनंत बाह्य पदार्थों में एकत्व-ममत्व नहीं करता; उनका कर्ता-भोक्ता नहीं बनता; इसप्रकार मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित नहीं होता; तब सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेष भावों का अभाव करता हुआ भगवान आत्मा को परिपूर्ण रूप से प्राप्त करता है।

टीका के उक्त अंश के अन्त में जगत के मंगल की कामना करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं कि सारा जगत उक्त ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को अवश्य प्राप्त करे।

अब यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द कृत ग्रंथाधिराज प्रवचनसार की तत्त्व-प्रदीपिका टीका का समापन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र तीन छन्द प्रस्तुत करते हैं; जिनमें से

प्रथम छन्द इसप्रकार है ह्व

(शार्दूलविक्रीडित)

आनन्दामृतपूरनिर्भरवहत्कैवल्यकल्लोलिनी-
निर्मग्नं जगदीक्षणक्षममहासंवेदनश्रीमुखम् ॥
स्यात्कारङ्कजिनेशशासनवशादासादयन्तूल्लसत् ।
स्वं तत्त्वं वृतजात्यरत्नकिरणप्रस्पष्टमिदं जनाः ॥२०॥

(हरिगीत)

आनन्द अमृतपूर से भरपूर जो बहती हुई ।
अरे केवलज्ञान रूपी नदी में डूबा हुआ ॥
जो इष्ट है स्पष्ट है उल्लसित है निज आत्मा ।
स्याद्चिह्नित जिनेन्द्र शासन से उसे पहिचान लो ॥२०॥

आनन्दामृत के पूर से भरपूर वर्तती हुई केवलज्ञानरूपी नदी में निमग्न जगत को देखने में समर्थ, महासंवेदनारूपी लक्ष्मी से युक्त, उत्तम रत्नकिरणों के समान स्पष्ट और इष्ट, उल्लसित स्वतत्त्व रूप निज भगवान आत्मा को सम्पूर्ण जगत; जिनेन्द्र भगवान के स्याद्वादांकित शासन का आश्रय लेकर प्राप्त करे।

उक्त छन्द में आचार्यदेव सम्पूर्ण जगत को मंगल-आशीर्वाद देते हुए प्रेरणा दे रहे हैं कि हे जगत के जीवो ! तुम भी स्याद्वादांकित जिनागम का सहारा लेकर निज भगवान आत्मा को प्राप्त कर सकते हो; इसलिए अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति के लिए इस दिशा में सतत प्रयास करो।

अब इस दूसरे छन्द में आचार्यदेव अपनी स्थिति स्पष्ट करते हैं। दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्व

(शार्दूलविक्रीडित)

व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्या तु गुम्फे गिरां ।
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाजनो वल्गतु ॥
वल्गतवद्य विशुद्धबोधकलया स्याद्वादविद्याबलात्
लब्ध्वैकं सकलात्मकशाश्वतमिदं स्वं तत्त्वमव्याकुलः ॥२१॥

(हरिगीत)

वाणिगुंफन व्याख्या व्याख्येय सारा जगत है ।
और अमृतचन्द्र सूरि व्याख्याता कहे हैं ॥

इसतरह कह मोह में मत नाचना हे भव्यजन !।

स्याद्विद्याबल से निज पा निराकुल होकर नचो ॥२१॥

आत्मा सहित सम्पूर्ण विश्व व्याख्येय है, व्याख्या करने योग्य है; वाणी का गुंफन व्याख्या है और आचार्य अमृतचन्द्र व्याख्याता अर्थात् व्याख्या करनेवाले हैं; हे जगतजनो ! इसप्रकार कहकर मोह में मत नाचो; किन्तु स्याद्वाद विद्या के बल से विशुद्धज्ञान की कला के द्वारा इस एक शाश्वत स्वतत्त्वरूप निज भगवान आत्मा को प्राप्त कर अव्याकुल रूप से नाचो, परमानन्द परिणति को प्राप्त करो।

देखो, यहाँ आचार्यदेव इतनी महान टीका लिखकर भी लिखने के श्रेय से सर्वथा अलिप्त रहकर, इसका कर्ता उन्हें कहे जाने को मोह में नाचना बता रहे हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि में तो निज भगवान आत्मा का ज्ञान-ध्यान ही एकमात्र ऐसा कार्य है; जिसे वे करना चाहते हैं, करते हैं और करने योग्य स्वीकार करते हैं।

शब्दों द्वारा लिखी गई इस टीका का कर्ता उनको कहना तो मात्र उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का कथन है; क्योंकि इस टीका के निर्माण में वे स्वयं तो निमित्त भी नहीं हैं; किन्तु उनका योग और उपयोग भी मात्र निमित्त ही है; इस टीका का उपादान कर्ता तो पौद्गलिक वर्णायें हैं।

उक्त कथन के माध्यम से आचार्यदेव न केवल अपना निस्पृह भाव व्यक्त कर रहे हैं; अपितु एक परम सत्य का उद्घाटन भी कर रहे हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यों का कर्ता-धर्ता नहीं है; प्रत्येक द्रव्य स्वयं के परिणमन का कर्ता-धर्ता स्वयं है। एक द्रव्य की परिणति को दूसरे द्रव्य की कहना मात्र उपचार ही है, उपचरित कथन ही है। ऐसा होने पर भी पर के कर्तृत्व के अहंकार में डूबा यह अज्ञानी जगत न केवल स्वयं को पर का कर्ता-धर्ता मानना है; अपितु लगभग सभी द्रव्यों को एक-दूसरे का कर्ता मानता है। उसकी यह मान्यता अज्ञान है, मोह में नाचना है। यहाँ उसी का निषेध किया गया है।

इस तत्त्वप्रदीपिका टीका को समाप्त करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव अन्त में जो छन्द लिखते हैं; वह इसप्रकार है

(मालिनी)

इति गदितमनीचैस्तत्त्वमुच्चावचं यत् ।

चित्ति तदपि किलाभूत्कल्पमग्रौ हुतस्य ॥

अनुभवतु तदुच्चैश्चिच्चिदेवाद्य यस्माद् ।

अपरमिह न किञ्चित्तत्त्वमेकं परं चित् ॥२२॥

(हरिगीत)

चैतन्य का गुणगान तो उतना ही कम जितना करो।

थोड़ा-बहुत जो कहा वह सब स्वयं स्वाहा हो गया ॥

निज आत्मा को छोड़कर इस जगत में कुछ अन्य ना।

इक वही उत्तम तत्त्व है भवि उसी का अनुभव करो ॥२२॥

इसप्रकार इस परमागम में अमन्दरूप से बलपूर्वक जो कुछ थोड़ा-बहुत तत्त्व कहा गया है; वस्तुतः वह सब अग्नि में होमी गई वस्तु के समान स्वाहा हो गया है। हे चेतन आत्मा! आज तुम उस चैतन्य को ही प्रबलरूप से अनुभव करो; क्योंकि इस जगत में उसके समान उत्तम कोई अन्य पदार्थ नहीं है; वह चेतन ही परम तत्त्व है, उत्तम तत्त्व है; परमोत्तम तत्त्व है।

जिसप्रकार अग्नि में होमी गई घृतादि सामग्री को अग्नि इसप्रकार खा जाती है कि मानो कुछ होमा ही नहीं गया हो। उसीप्रकार अनन्त महिमावंत चेतन आत्मा का चाहे जितना प्रतिपादन किया जाये, उसकी कितनी भी महिमा गाई जाये; तथापि वह समस्त प्रतिपादन एवं सम्पूर्ण महिमा, उस महिमावंत पदार्थ के सामने कुछ भी नहीं है। अतः अब विशेष कुछ कहने से क्या लाभ है ? हम सभी को उक्त स्वतत्त्व में ही समा जाना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि अनन्त महिमावंत निज भगवान आत्मा के प्रतिपादन का तो कोई पार नहीं है; वह तो अपार है; अतः अब उसमें ही अटके रहने से कोई लाभ नहीं है; अतः अब तो स्वयं में समा जाना ही श्रेयस्कर है।

यद्यपि आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका में भी तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान एक परिशिष्ट दिया गया है; तथापि उसमें शेष बातें तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान होने पर भी 47 नयों की चर्चा नहीं है। उसके स्थान पर अत्यन्त संक्षेप में निश्चय-व्यवहार नयों से आत्मा की चर्चा की गई है; जो मूलतः पठनीय है।

जिसप्रकार नाटक समयसार में कविवर पण्डित बनारसीदासजी अन्त में गुणस्थानाधिकार अपनी ओर से जोड़ देते हैं; ठीक उसीप्रकार यहाँ पण्डित देवीदासजी प्रवचनसारभाषाकवित्त में प्रवचनसार की मूल विषयवस्तु समाप्त होने के बाद बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की चर्चा विस्तार से करते हैं; जो मूलतः पठनीय है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार ग्रन्थ की तत्त्वप्रदीपिका टीका में समागत परिशिष्ट समाप्त होने के साथ-साथ प्रवचनसार अनुशीलन भाग-३ समाप्त होता है।